Priy Pravesh Bharatbharti Saket

By

Ram Kumar Mishra

कथावस्तु

"प्रियप्रवास" आधुनिक हिन्दी साहित्य का प्रथम सफल महाकाव्य है। इसकी कथावस्तु का मूलाधार श्रीमद्भागवत का दशम स्कंध है, जिसमें श्रीकृष्ण के जन्म से लेकर उनके यौवन, कृष्ण का ब्रज से मथुरा को प्रवास और लौट आना वर्णित है। सम्पूर्ण कथा, दो भागों में विभाजित है। पहले से आठवें सर्ग तक की कथा में कंस के निमंत्रण लेकर अक्रूर जी ब्रज में आते है तथा श्रीकृष्ण समस्त ब्रजवासियों को शोक में छोड़कर मथुरा चले जाते है। नौवें सर्ग से लेकर सत्रहवें सर्ग तक की कथा में कृष्ण, अपने मित्र उद्धव को ब्रजवासियों को सांत्वना देने के लिए मथुरा भेजते है। राधा अपने व्यक्तिगत स्वार्थों से ऊपर उठकर मानवता के हित के लिए अपने आप को न्योछावर कर देती है। राधा की प्रसिद्ध उक्ति है-

> "प्यारे जीवें जगहित करें, गेह चाहे न आवें।'

इस महाकाव्य में कृष्ण एवं राधा का जो रूप वर्णित हुआ है, साधरण परंपरागत रूप से भिन्न है। कृष्ण का चरित्र जन साधारण के लिए एक प्रेरणा स्त्रोत है। द्विवेदी युग में देश -प्रेम, स्वाधीनता, विश्व बंधुत्व, मानवतावाद और सुधारवाद की जो लहर चली, उसका स्वर प्रियप्रवास में सुनाई पड़ता है। शिवदान सिंह चौहान का कहना है कि "प्रियप्रवास में कृष्ण अपने शुद्ध मानव रूप में विश्व कल्याण के काम में रत एक जन नेता के रूप में अंकित किए गए है"। श्रीधर पाठक ने प्रियप्रवास के सम्बन्ध में लिखा है-

> दिवस के अवसान समे मिला।।
> "प्रियप्रवास" अहो प्रिय आपका।।
> अमित मोद हुआ चख कर चित्त को।।
> सरस स्वाद -युता कविता नई ।।[1]

11. अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' (प्रियप्रवास)

इसका प्रकाशन वर्ष 1914 ई. है तथा यह 17 सर्गों में विभक्त है। यह खड़ी बोली हिंदी का प्रथम महाकाव्य है।

'प्रथम सर्ग' से

- दिवस का अवसान समीप था
  गगन था कुछ लोहित हो चला।
  तरु-शिखा पर थी अब राजती।
  कमलिनी - कुल वल्लभ की प्रभा।।

'द्वितीय सर्ग' से

- गत हुई अब थी द्वि घटी निशा।
  तिमिर - पूरित थी सब मेदिनी।
  बहु विमुग्ध करी बन थी लसी।
  गगन मंडल तारक - मालिका।।

'तृतीय सर्ग' से

- समय था सुनसान निशीथ का।
  अटल भूतल में तम - राज्य था।
  प्रलय - काल समान प्रसुप्त हो।
  प्रकृति निश्चल, नीरव, शान्त थी।।
- प्रमुदित मथुरा के मानवों को बना के।
  सकुशल रह के औ विघ्नवाधा बचा के।
  निज प्रिय सुत दोनों साथ लेके सुखी हो।
  जिस दिन पलटेंगे गेह स्वामी हमारे।।

'चतुर्थ सर्ग' से

- कमल का दल भी हिम - पात से।
  दलित हो पड़ता सब काल है।
  कल कलानिधि को खल राहु भी।
  निगलता करता बहु क्लान्त है।।
- अयि सखि! अवलोके खिन्नता तू कहेगी।
  प्रिय स्वजन किसी के न जाते कहीं है।
  पर हृदय न जाने दग्ध क्यों हो रहा है।
  सब जगत हमें है शून्य होता दिखाता।।

'पञ्चम सर्ग' से

- सारा नीला-सलिल सरि का शोक-छाया पगा था।
  कंजों में से मधुप कढ़ के घूमते थे भ्रमे से।
  मानों खोटी - विरह - घटिका सामने देख के ही।
  कोई भी थी अवनत - मुखी कान्तिहीना मलीना।।
- आते आँसू अति कठिनता से सँभाले दृगों के।
  होती खिन्ना हृदय-तल के सैकड़ों संशयों से।
  थोड़ा पीछे प्रिय तनय के भूरि शोकाभिभूता।
  नाना वामा सहित निकलीं गेह में से यशोदा।।

'सप्तम सर्ग' से

- प्रिय-पति वह मेरा प्राणप्यारा कहाँ है।
  दुख - जलधि निमग्ना का सहारा कहाँ है?
  अब तक जिसको मैं देख के जी सकी हूँ।
  वह हृदय हमारा नेत्र - तारा कहाँ है।।
- जिस प्रिय वर को खो ग्राम सूना हुआ है।
  सदन सदन में हा! छा गई है उदासी।

मैथिलीशरण गुप्त

महावीर प्रसाद द्विवेदी के आदर्शों, मान्यताओं और तत्पश्चर्या की फलश्रुति थे मैथिलीशरण गुप्त। पूरे दो दशकों का पूर्ण प्रतिनिधित्व गुरू शिष्य करते हैं। उनकीं पहली कविता **हेमंत, सरस्वती** में प्रकाशित हुई। द्विवेदी जी के प्रोत्साहन के फलस्वरूप उन्होंने पाँच-छह वर्षो में ही पौराणिक-ऐतिहासिक चित्रों तथा देश काल, धर्म-समाज से सबद्ध अनेक रचनाएँ लिख डालीं।

गुप्त जी गाँव 'चिरगाँव' के रहने वाले थे । उनकी स्कूली शिक्षा भी मामूली तौर पर ही हुई थी। किन्तु उस पीढ़ी में अद्‌भुत जीवटता, कर्मठता और संकल्प शक्ति थी। ये विशेषताएँ उनके जीवन और काव्य-संघर्ष दोनों में परिलक्षित होती है।

गुप्त जी के परिवार और परिवेश दोनों पर गहरा वैष्णवी रंग था। उनके पिता माधुर्य भाव से उपासना करते थे। गुप्त जी की दीक्षा भी इसी सम्प्रदाय में हुई थी। उनके परिवेश में जो गाँधीवादी विचारधारा परिव्याप्त थी उसका मेरूदंड भी वैष्णवी था। किन्तु जो भक्ति उन्हें विरासत में मिली उसका वैष्णवपन देश-काल के मेल में नही था। गुप्त जी ने उसे संशोधित कर मर्यादा पुरूषोतम को अपना आराध्य बनाया। गांधी जी के आदर्श भी राम ही थे। उनकी राज्य-कल्पना, रामराज्य की कल्पना थी। उनका युग एक मर्यादा और संयम से बँधा हुआ अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर हो रहा था। गुप्त जी का काव्य, मर्यादा और संयम की डोर से बँधा हुआ नए जागरण का मंत्र फूँकने में समर्थ सिद्ध हुआ।

अभी तक हिन्दी खड़ीबोली का काव्य नवीन युग चेतना को नहीं अपना पाया था। गुप्त जी पहले कवि है जिन्होंने अपने समसामायिकी नैतिक, धार्मिक, राष्ट्रीय आकांक्षाओं को वाणी देकर खड़ीबोली को युगीन चेतना से जोड़ा। इसी अर्थ में वे राष्ट्रकवि हैं। इससे यह समझना नहीं चाहिए कि गुप्त जी ने पुराने आदर्शो में कोई क्रांतिकारी परिवर्तन किया है। उन्हें पुराने नैतिक मूल्यों में अटूट आस्था थी, अतीत के प्रति प्रबल आकर्षण था। किन्तु वर्तमान की समस्याओं के प्रति वे पूर्णत: जागरूक थे।

गुप्त जी की काव्य-रूढ़ि पुरानी है पर उस पर रंग नया है और जो कुछ नया है उसका मूलाधार पुराना है। वे काव्य में रस, अनुभाव, काव्यगुण, छंद- निर्वाह पर ध्यान देने के आग्रही है। श्रृंगार-रस के अर्न्तगत दाम्पत्य प्रेम की अभिव्यक्ति तक ही वे अपने को सीमित रखते है,। उनके काव्य का प्रयोजन है लोकहित, मनुष्य के मन में सद्भावों का संचार, ज्ञान का प्रकाश। अपने प्रयोजन की सिद्धि के

लिए वे उत्कृष्ट विषयों का चयन करते हुए उन्हें अपनं समसामायिकी समस्याओं से सदर्भित करते है।

गुप्त जी जिस राष्ट्रीय चेतना को लेकर काव्य- क्षेत्र मं अवतीर्ण हुए वह भारतेन्दु तथा उनके समसामयिक कवि चेतना सं किंचित भिन्न है। उस समय के कवि करूणा-विगलित स्वर में य तो करूणानिधि केशव को जगा रहे थे या अपने अतीत-गौरव क स्मरण कर गंगा-यमुना से मथुरा-काशी को डुबा देने की प्रार्थन करते थे। चितौड़ को अपने समसामायिकी संदर्भ में रखकर उनके मन में मायूसी छा जाती थी।किन्तु गुप्त जी के प्रथम काव्य **'रंग मे भंग'** में चितौड़ का स्मरण दूसरे ढंग से किया गया है-

आज भी चितौड़ का सुन नाम कुछ जादूभरा।
चमक जाती चंचला सी चित में कर के त्वरा।।

अंधकार में बिजली की चमक क्षणभर के लिए ही सही प्रकाश बिखेर जाती है और चित को बैचेन बना देती है। इस संदर्भ में जयद्रथ वध और भारत-भारती जो 'रंग में भंग' के बाद लिखी गई, भी विचारणीय है। दोनों की आरंभिक पंक्तियाँ हैं-

फिर पूर्वजों की शिक्षा तरंगो में बहो।

तथा

हम कौन थे, क्या हो गये हैं, और क्या होंगे अभी।
आओं विचारें आज मिलकर ये समस्याएँ सभी।

कवि पूर्वजों की दिव्य झाँकी प्रस्तुत करके उनसे शिक्षा ग्रहण करने का संदेश देता है और हमें भत, वर्तमान और भविष्य के सम्बन्ध में

रंग में भंग में बूंदी का हाड़ा चितौड़ के महाराणा के प्रतिज्ञा पालन के निमित बने बूँदी के कृत्रिम दुर्ग को तब तक नहीं तोड़नें देता जब तक उसके शरीर में प्राण शेष था। मातृभुमि की प्रतिमा के प्रति भी यह निर्व्याज ममता, **इस युग** के लिए भी समान रूप से महत्वपूर्ण है। **जयद्रथ वध** में अभिमन्यु उस युवापीढ़ी का प्रतिनिधि है जो राष्ट्रीय यज्ञ में, महारथियों के अभेदचक्र की चिन्ता न करते हुए अपनी बलि चढ़ा देती है। **भारत-भारती** तो उस समय की राष्ट्रीय चेतना का प्रारभिक स्त्रोत एवं नवजागरणवादी भावना ही है। छायावाद के पूर्व तक सरल, सुबोध और इतिवृतात्मक शैली में इसकी प्रगतिशीलता असंदिग्ध बनी रही। सरल, सुबोध और इतिवृतात्मक शैली में समसामायिक जीवन को खड़ीबोली में बाँधकर उसकी अभिव्यक्ति क्षमता और छंद-संगीत को इस ढंग से उजागर किया कि शिक्षित युवावर्ग पर इसका उद्‌बोधनात्मक प्रभाव पड़ा। समसामायिक जीवन को खड़ीबोली की काव्यात्मक संभावनाओं का द्वार उन्मुक्त हो गया। भारत-भारती में अविकसित राष्ट्रीयता का

पूर्ण विकास लोकतंत्र के आधार पर हैं। इसके माध्यम से गुप्त जी की अपनी राजनीतिक चेतना के साथ-साथ पूरे युग की राजनीतिक चेतना का विकास देखा जा सकता है।

साकेत

1931 में प्रकाशित साकेत उनकी काव्य-चेतना की चरम उपलब्धि है। भारत-भारती और सांकेत के प्रकाशन के मध्यवर्तीकाल में शकुन्तला, पत्रावली, वैतालिक किसान, अनध, पंचवटी, स्वदेश संगीत, हिन्दू, विकटभट, गुरूकुल और भावनात्मकता से मुक्त नहीं हो पाया। अधिकांश रचनाओं में वह समसामायिकी राजनीतिक विचारों का प्रभाव दिखाई पड़ता है।

साकेत, गुप्त जी का सर्वश्रेष्ठ काव्य है। इसमें अपने युग के जीवन को समग्रतः चित्रित करने का प्रयास किया गया है,

साकेत-रचना की मूल प्रेरणा उन्हें महावीर प्रसाद द्विवेदी के 'एक लेख कवियों की उर्मिला-विषयक उदासीनता' से मिली जो सरस्वती की जुलाई में भुजंगभूषण भट्टाचार्य के छद्म नाम से छपा था। स्वयं द्विवेदी जी ने लिखा था, खेद की बात है कि उर्मिला का उज्ज्वल चरित्र-चित्रण कवियों के द्वारा आज तक ढकता आया हैं। इससे अनुप्रेरित होकर उर्मिला विषयक कई काव्य, लिखे गए। हरिऔध ने 'उर्मिला,' नवीन ने 'विस्मृता उर्मिला,' गुप्त जी ने उर्मिला की रचना की। पर साकेत काव्य का लेखन सन से समारंभ होता है। इन सभी प्रयासों का मूल प्रेरक तत्व नारी के सम्बन्ध में बदली हुई भावना थी। उर्मिला अपनी पारम्परिक गरिमा को लिए हुए नवीन है।

उर्मिला को केन्द्रवर्ती बिन्दु मान लेने पर समस्त रामायणी कथा उसके साथ चतुर्दिक घूमने के लिए बाध्य हो जाती है। फलस्वरूप साकेत का कथ्य और रूपों दोनो में अपेक्षित परिवर्तन आवश्यक हो गया। लेकिन इसका नाम उर्मिला न रखकर साकेत क्यों रखा गया? संभवत: कवि उर्मिला को साकेत के नर-नारियों, नदी-कछारों, प्रात: दुपहर, संध्या, रात्रि, लोग-बाग की चर्चाओं और समस्याओं आदि से सम्बद्ध करना चाहता था। अन्यथा उर्मिला की चारित्रिक पूर्णता संभव नही थी। ऐसा करने के लिए वह बाध्य था, क्योंकि उर्मिला की सीमा साकेत की सीमा थी। चित्रकूट को प्रत्यक्ष कथा का अग्र बनाने का कारण यह था कि एक विशेष अवसर पर साकेत का पूरा समाज चित्रकूट में ही था। उस समाज के अतिरिक्त साकेत और क्या हो सकता था? गोस्वामी तुलसीदास ने भी चित्रकूट की घटना को अयोध्याकांड के ही भीतर रखा है।

इस नाम के फलस्वरूप रामायणी कथा का मुख्य आधार लेते हुए भी साकेत का स्वतन्त्र अस्तित्व प्रतिष्ठित हो सका है। कथा का आरंभ अयोध्या के राजभवन में होने वाले लक्ष्मण-उर्मिला के विनोद

से होता है। इसके पश्चात् कैकेयी-मंथरा-संवाद, राम-वन-गमन, चित्रकूट-सभा आदि की घटनाएँ आज तक चलती है। नवें सर्ग में उर्मिला का वियोग वर्णन है। दसवें सर्ग मे सरयू को संबोधित करती हुई उर्मिला अपने जन्म से लेकर स्वयंवर तक की कथा स्मृति संचारी के रूप में या फ्लैशबैक के रूप में कहती है। गयारहवे सर्ग में शत्रुघ्न और हनुमान के माध्यम से दंडकारण्य से लेकर लक्ष्मण को शक्ति लगने तक की घटनाओं का वर्णन किया है। बारहवें सर्ग में साकेत निवासियों की युद्ध की तैयारी, लंका का युद्ध, राम का आयोध्या आगमन और उर्मिला-लक्ष्मण का मिलन वर्णित है। सम्पूर्ण कथा को उर्मिला और साकेत से सम्बद्ध रखने के कारण नाटकीय शिल्प का सहारा लेना पड़ा है। सारी घटनाएँ साकेत के रंगमंच पर घटित होती है।-कुछ प्रत्यक्ष रूप में, कुछ संकेत रूप से। दूसरे शब्दों में अयोध्याकांड के अतिरिक्त रामायणी कथा की शेष घटनाएँ सूक्ष्म रूप में ही कही गई है। इससे साकेत की रूप संघटना में एक प्रकार नवीनता आई है। किन्तु क्रिया-व्यापार से सम्बंधित समस्त घटनाओं को सूक्ष्म बना देने से साकेत का रंगमंच सूना लगने लगता है। इस शून्यता को उर्मिला के विरहवर्णन और साकेत-समाज की कथा को असंतुलित रूप में प्रस्तुत किया है। किन्तु रामायणी कथा लिखना उसका उद्देश्य नहीं था। खटकनेवाली बात है रंगमंच की शून्यता। इससे उसे महाकाव्योचित औदात्य नहीं मिल पाया है।

12. मैथिलीशरण गुप्त

भारत-भारती

इसका प्रकाशन वर्ष 1912 ई. है और यह 3 खंडों (अतीत खंड, वर्तमान खंड व भविष्य खंड) में विभक्त है।

- भू-लोक का गौरव, प्रकृति का पुण्य लीला-स्थल कहाँ?
  फैला मनोहर गिरि हिमालय और गंगाजल जहाँ।
  सम्पूर्ण देशों से अधिक किस देश का उत्कर्ष है?
  उसका कि जो ऋषिभूमि है, वह कौन? भारतवर्ष है।।
- हाँ-वृद्ध भारतवर्ष ही संसार का सिरमौर है,
  ऐसा पुरातन देश कोई विश्व में क्या और है?
  भगवान् की भव-भूतियों का यह प्रथम भांडार है?
  विधि ने किया नर-सृष्टि का पहले यहीं विस्तार है।।
- भूले हुओं को पथ दिखाना यह हमारा कार्य्य था,
  राजत्व क्या है, जगत हमको मानता आचार्य्य था।
  आतंक से पाया हुआ भी मान कोई मान है?
  खिंच जाय जिस पर मन स्वयं सच्चा वही बलवान है?।।

- जो पूर्व में हमको अशिक्षित या असभ्य बता रहे–
  वे लोग या तो अज्ञ हैं या पक्षपात जता रहे।
  यदि हम अशिक्षित थे, कहें तो, सभ्य वे कैसे हुए?
  वे आप ऐसे भी नहीं थे, आज हम जैसे हुए।।
- कल जो हमारी सभ्यता पर थे हँसे अज्ञान से–
  वे आज लज्जित हो रहे हैं अधिक अनुसन्धान से।
  जो आज प्रेमी हैं हमारे भक्त कल होंगे वही,
  जो आज व्यर्थ विरक्त हैं अनुरक्त कल होंगे वही।।
- तब भी कला-कौशल यहाँ का था जगत के हित गया,
  है फाहियान विलोक जिसको मुग्ध होकर कह गया–
  "यह काम देवों का किया है, मनुज कर सकते नहीं–
  दृग देखकर जिसको कभी श्रम मानकर थकते नहीं!"।।

वर्त्तमान खंड

- जिस लेखनी ने है लिखा उत्कर्ष भारतवर्ष का,
  लिखने चली अब हाल वह उसके अमित अपकर्ष का!
- भारत, कहो तो आज तुम क्या हो वही भारत अहो!
  हे पुण्यभूमि! कहाँ गई है वह तुम्हारी श्री कहो?
- पानी बनाकर रक्त का, कृषि कृषक करते हैं यहाँ?
  फिर भी अभागे भूख से दिन-रात मरते हैं यहाँ!
- देखो, कृषक शोणित सुखाकर हल तथापि चला रहे,
  किस लोभ से इस आँच में वे निज शरीर जला रहे।।
- कुछ रात रहते जागकर चक्की चलाने बैठतीं,
  हम सच कहेंगे, उस समय वे गीत गाने बैठतीं।
  पर क्या कहें, उस गीत से क्या लाभ पाने बैठतीं,
  वे सुख बुलाने बैठतीं, या दुख भुलाने बैठतीं।।
- केवल विदेशी वस्तु ही क्यों अब स्वदेशी है कहाँ?
  वह वेश-भूषा और भाषा, सब विदेशी है यहाँ।
- विद्या बिना अब देख लो हम दुर्गुणों के दास हैं;
  हैं तो मनुज, हम किंतु रहते दनुजता के पास हैं।
- दासत्व के परिणाम वाली आज है शिक्षा यहाँ,
  हैं मुख्य दो ही जीविकाएँ भृत्यता-भिक्षा यहाँ!

भविष्यत खंड

- अब भी समय है जागने का देख आँखें खोल के,
  सब जग जगाता है तुझे, जग कर स्वयं जय बोल के।
- हम कौन थे क्या हो गये हैं, जान लो इसका पता,
  जो थे कभी गुरु है न उनमें शिष्य की भी योग्यता।
- किस भाँति जीना चाहिए, किस भाँति मरना चाहिए;
  सो सब हमें निज पूर्वजों से याद करना चाहिए।
- हे भाइयो! सोये बहुत, अब तो उठो, जागो, अहो!
  देखो जरा अपनी दशा, आलस्य को त्यागो अहो!
  कुछ पार है, क्या क्या समय के उलट-फेर न हो चुके!
  अब भी सजग होगे न क्या? सर्वस्व तो हो खो चुके ।।
- संसार की समरस्थली में धीरता धारण करो,
  चलते हुए निज इष्ट पथ में संकटों से मत डरो।
  जीते हुए भी मृतक-सम रहकर न केवल दिन भरो,
  वर वीर बनकर आप अपनी विघ्न-बाधाएँ हरो ।।

- प्रत्येक जन प्रत्येक जन को बंधु अपना जान लो,
  सुख-दु-ख अपने बंधुओं का आप अपना मान लो।
- पशु और पक्षी आदि भी अपना हिताहित जानते,
  पर हाय! क्या तुम अब उसे भी हो नहीं पहचानते?
- सन्तो! महन्तो! स्वामियो! गौरव तुम्हारा ज्ञान है,
  पर क्या कभी इस बात पर जाता तुम्हारा ध्यान है?
  वह देश चाहे सुगम हो, ओवश अति दुर्गम्य है;
  सौरभ-रहित है जो सुमन वह रूप में क्या रम्य है?॥
- थे साधु तुलसीदास, नानक, रामदास समर्थ भी;
  व्यवहृत यही पद हो रहा है आज उनके अर्थ भी।
  पर वे न होकर भी यहाँ उपकार सबका कर रहे,
  सद्भाव उनके ग्रंथ सबके मानसों में भर रहे॥

साकेत (नवम् सर्ग)

इसका प्रकाशन वर्ष 1931 ई. है तथा यह 12 सर्गों में विभक्त है। इसका नवम सर्ग उर्मिला (लक्ष्मण की पत्नी) के विरह-वर्णन से संबंधित है।

- दो वंशों में प्रकट करके पावनी लोक-लीला,
  सौ पुत्रों से अधिक जिनकी पुत्रियाँ पूतशीला,
  त्यागी भी हैं शरण जिनके, जो अनासक्त गेही,
  राजा-योगी जय जनक, वे पुण्यदेही विदेही।
  विफल जीवन व्यर्थ बहा बहा,
  सरस दो पद भी न हुए हहा!
  कठिन है कविते, तब भूमि ही,
  पर यहाँ श्रम भी सुख-सा रहा।
- मानस-मन्दिर में सती, पति की प्रतिमा थाप,
  जलती-सी उस विरह में, बनी आरती आप!
- पहले आँखों में थे, मानस में कूद मग्न प्रिय अब थे,
  छींटे वही उड़े थे, बड़े बड़े अश्रु वे कब थे?
- मिथिला मेरा मूल है और अयोध्या फूल,
  चित्रकूट को क्या कहूँ, रह जाती हूँ भूल।

- सुख दे सकते हैं तो दु:खी जन ही मुझे, उन्हें यदि भेटूँ,
  कोई नहीं यहाँ क्या जिसका कोई अभाव मैं भी मेटूँ?
- जीवन के पहले प्रभात में आँख खुली जब मेरी,
  हरी भूमि के पात पात में मैंने हृद्‌गति हेरी।
  खींच रही थी दृष्टि-सृष्टि यह स्वर्णरश्मियाँ लेकर,
  पाल रही ब्रह्माण्ड प्रकृति थी, सदय हृदय में लेकर।
- वेदने, तू भी भली बनी।
  पाई मैंने आज तुझी में अपनी चाह धनी।
- लिखकर लोहित लेख, डूब गया है दिन अहा!
  व्योम-सिन्धु सखि, देख, तारक-बुद्‌बुद दे रहा!
- दीपक के जलने में आली,
  फिर भी है जीवन की लाली,
  किंतु पतंग-भाग्य-लिपि काली,
  किसका वश चलता है?
  दोनों ओर प्रेम पलता है।
- सखि, नीलनभस्सर में उतरा
  यह हंस अहा! तरता तरता,
  अब तारक-मौक्तिक शेष नहीं,
  निकाल जिनको चरता चरता।

- दिन जो मुझको देंगे, आलि, उसे मैं अवश्य ही लूँगी,
  सुख भोगे हैं मैंने, दुःख भला क्यों न भोगूँगी?
- प्यासे हैं प्रियतम, सब प्राणी,
  उनपर दया करो हे दानी,
  इन प्यासी आँखों में पानी,
  मानस, कभी न रीतो,
  मन को यों मत जीतो!
- मेरी ही पृथिवी का पानी,
  ले लेकर यह अंतरिक्ष सखि, आज बना है दानी!
- दरसो परसो घन, बरसो,
  सरसो जीर्ण शीर्ण जगती के तुम नव यौवन, बरसो।

- नभ में आप विचरते हैं जो,
  हरा धरा को करते हैं जो,
  जल में मोती भरते हैं जो,
  अक्षय उनका कोष,
  सफल है, उन्हीं घनों का घोष।
- हा! वह सहृदयता भी क्रीड़ा में है कठोरता जड़िता,
  तड़प-तड़प उठती है स्वजनि, घनालिंगिता तड़िता!
- पथ तक जकड़े हैं झाड़ियाँ डाल घेरा,
  उपवन वन-सा हा हो गया आज मेरा।
  प्रियतम वनचारी गेह में भी रहेंगे,
  कह सखि, मुझसे वे लौटके क्या कहेंगे?

- सखे, जाओ तुम हँसकर भूल, रहूँ मैं सुध करके रोती।
  तुम्हारे हँसने में हैं फूल, हमारे रोने में मोती!
- प्रिय के व्रत में विघ्न न डालूँ रहूँ निकट भी दूर,
  व्यथा रहे, पर साथ साथ ही समाधान भरपूर।
  हर्ष डूबा हो रोदन में,
  यही आता है इस मन में।
- तो इच्छा है, उन चरणों की रज मैं आप रमाऊँ,
  आप अवधि बन सकूँ कहीं तो क्या कुछ देर लगाऊँ।
  मैं अपने को आप मिटाकर, जाकर उनको लाऊँ।
  ऊषा-सी आई थी जग में, सन्ध्या-सी क्या जाऊँ!
  श्रान्त पवन-से वे आवें, मैं सुरभि-समान समाऊँ!
  मेरा रोदन मचल रहा है, कहता है, कुछ गाऊँ,
  उधर गान कहता है, रोना आवे तो मैं आऊँ!
  इधर अनल है और उधर जल, हाय! किधर मैं जाऊँ!
  प्रबल वाष्प, फट जाय न यह घट, कह तो हाहा खाऊँ?

प्रश्नः कामायनी के कथानक (15 सर्गों में) को स्पष्ट करें

उत्तर : कामायनी का सामान्य कथानक चिंता से आनंद सर्ग तक है। कामायनी न सिर्फ जयशंकर प्रसाद की वरन् छायावाद की भी प्रतिनिधि रचना हैं।, प्रसाद भारतीय संस्कृति एवं इतिहास के समग्र जानकार रहे हैं। अपनी रचना कामायनी में उन्होंने सामायिक एवं शाश्वत समस्याओं को तथा उसके संतुलित समाधान को व्यक्त किया है। पौराणिक मनु की कथा लेकर 15 सर्गो में अभिव्यक्त किया है।

चिंता सर्ग : प्रथम सर्ग

चिंता सर्ग कामायनी का प्रथम सर्ग है। रचना का प्रारंभ होता है:

'हिमगिरि के उतुंग शिखर पर
बैठ शिला की शीतल छाँह
एक पुरूष भीगे नयनों से
देख रहा था प्रलय प्रवाह ॥'

यह प्रलय एवं जल पलायन भोगवादी देव सभ्यता एवं सामंती सभ्यता के विनाश का सूचक है। मनु भी इसी सभ्यता के अवशेष हैं और इसीलिए चिन्तित भी। प्रथम पंक्तियों में प्रसाद का संकेत है कि अतिशय भोग व विलास अन्ततः सभ्यता को विनष्ट करती है। सतत विकास एवं प्राकृतिक संन्तुलन के लिए भोगवादी चिंतन बाधक है। यह भोगवाद व्यक्ति को आत्मकेन्द्रित भी बनाता है। इसीलिए प्रकृति मानव को सकारात्मक संदेश देती है। चिंता सर्ग में मूल चिंता है कि जीवन नश्वर है। जीवन के विनाश का कारण अहंकार मूलक भोगवाद है। प्रलय इसका बाहरी रूप है।

आशा सर्ग

प्रलय के बाद आशा सर्ग का विकास होता है। शान्त प्रकृति सौन्दर्य एवं जिजीविषा के साथ उपस्थित होती है। इसका प्रारंभ होता है।

'उषा सुनहले तीर बरसती, जय लक्ष्मी सी उदित हुई
उधर पराजित काल रात्रि भी, जल में अन्तर्निहित हुई।।

आत्म विकास की संभावना प्रकृति में भी है एवं चेतन सत्ता में भी। मनु स्वयं जीवन से तथा सृष्टि को संचालित करने वाली शक्ति से स्वयं को जोड़ना चाहते हैं। वे जीवन का प्रारंभ करते है। जैसे लकड़ी जलाना, अन्न फल चुनना। यहाँ मानवीय सहानुभूति का भी जन्म होता है। इसी सहानुभूति के साथ, प्रकृति के सौन्दर्य के साथ प्राप्त हुआ अन्न अपरिचित के लिए रख देते है। प्रसाद का संकेत है कि अतिशय दुख एवं चिंता के बाद मानवीय मूल्य एवं सहानुभूति का जन्म होता है।

मनु की निराशा खत्म होती है तथा जीवन में सुन्दर कल्पनाओं का सृजन होता है

'आह कल्पना का सुन्दर वह
जगत मधुर कितना होता
सुख स्वप्नों की मृदु छायां में
पुलकित हो जगता सोता॥'

श्रद्धा सर्गःतृतीय सर्ग

श्रद्धा सर्ग कामायनी का महत्वपूर्ण सर्ग है। इसका प्रारंभ श्रद्धा के आगमन से होता है। यह ललित कलाओं के आकर्षण में हिमालय की तरफ से आई है। श्रद्धा मनु को संसार रूपी सागर से फेंकी हुई

एक मणि समझती है। श्रद्धा प्रश्न करती है - कौन तुम? मनु पीछे मुड़कर देखते हैं-

'और देखा वह सुंदर दृश्य
नयन का इन्द्रजाल अभिराम
कुसम वैभव में लता समान
चंद्रिका में लिपटा घनश्याम॥'

यह अप्रतिम सौन्दर्य का वर्णन प्रसाद की कलात्मकता का एवं छायावाद की सौन्दर्य चेतना का उदाहरण है। यहाँ श्रद्धा के आन्तरिक एवं वाह्य सौन्दर्य दोनों का चित्रण उपस्थित है-

'हृदय की अनुकृति वाह्य उदार
एक लंबी काया उन्मुक्त॥'

इसके पश्चात श्रद्धा अपना परिचय देती है। श्रद्धा व मनु में संवाद होता है। श्रद्धा मनु को कर्म की प्रेरणा देती है तथा जीवन को सकारात्मक लक्ष्य से जोड़ती है। श्रद्धा सर्ग कामायनी के जीवन दर्शन को व्यक्त करती है।

'काम मंगल से मंडित श्रेय
सर्ग इच्छा का है परिणाम
तिरस्कृत कर इसको तुम भूल
बनाते हो असफल भवधाम॥'

'प्रकृति के यौवन का श्रृंगार
करेंगे कभी न बासी फूल॥'

'कर्म का भोग, भोग का कर्म
यही जड़ चेतन का आनंद॥'

'शक्ति के विद्युत्कण जो व्यस्त
विकल विखरे है हों निरूपाय
समन्वय उनका करे समस्त
विजयिनी मानवता हो जाए॥'

काम एवं वासना सर्ग

श्रद्धा,भारतीय संस्कृति आस्था एवं विश्वास की प्रतीक है। इसके पश्चात् काम एवं वासना सर्ग आता है। श्रद्धा एवं मनु के साहचर्यसे काम चेतना का उदय होता है, जिससे जीवन में ऊर्जा, इच्छा सौन्दर्य, कर्म एवं शक्ति का संचालन होता है। संकेत है कि सृष्टि का प्रारंभ ही काम से होता है। काम एवं देह की इच्छा वासना है एवं काम व चेतना की उदारता अध्यात्म है। वासना का भाव श्रद्धा में लज्जा का भाव बनकर उभरता है।

लज्जा सर्ग : छठा सर्ग इस सर्ग में नारी के मन के अन्तर्द्वन्द्व को चित्रित किया गया है। यह अर्न्तद्वंद्व मन/संयम एवं

समर्पण के बीच है। मन संयमित है किंतु तन समर्पित होने को बाध्य है।

'यह आज समझ तो पायी हूँ
मैं दुर्बलता में नारी हूँ॥'

यहाँ लज्जा का मानवीकरण भी हुआ है-

'मैं रति की प्रतिकृति लज्जा हूँ
शालीनता सिखलाती हूँ॥'

लज्जा सर्ग में पुरूषवादी मानसिकता का आरोप लगा है तथा मध्यकालीनता दिखाई देती है-

'नारी तुम केवल श्रद्धा हो
विश्वास रजत नभ - पग तल में
पीयूष श्रोत सी बहा करो।
जीवन के सुन्दर समतल में॥'

श्रद्धा की प्रकृति उदात्त है तथा काम इच्छा में भी मर्यादा दायित्व एवं कर्तव्य भावना दिखाई देती है-

कर्म सर्ग

कर्म सर्ग में शिकार खेलते मनु आकुलि एवं किलात से मिलते है जो अस्ट्रो के पुरोहित थे। मनु को वे हिंसा करने के लिए प्रोत्साहित करते हैं। प्रसाद का संदेश है कि श्रद्धा अहिंसक है जबकि मनु हिंसक भाव से ग्रस्त हैं। श्रद्धा, कर्म एवं निर्माण की चेतना है। श्रद्धा गर्भ धारण के बाद जीव-जन्तुओं को बच्चों की तरह प्यार करती है। इससे मनु में ईर्ष्या का भाव पैदा होता है। कामायनी के माध्यम से इन दो विरोधी संस्कृतियों के अन्तर्द्वन्द्व को चित्रित करना चाहते है। प्रथम संस्कृति श्रद्धा की है एवं भावना, त्याग एवं समर्थन की है। दूसरी संस्कृति मनु की है। जो हिंसा एवं भोग मूलक है। मनु बल का सहारा लेता अपनी इच्छा को पाने में सफल रहता है।

ईर्ष्या सर्ग

ईर्ष्या सर्ग : इस सर्ग में मनु का आचरण हिंसक एवं उदण्ड है। वे दिन रात शिकार करते हैं जबकि श्रद्धा तटस्थ होकर निर्माण में लगी रहती है मनु को अपने गर्भस्थ शिशु से भी ईर्ष्या होने लगती है। यह सग्र मनु की विकृति/भोगमूलक चेतना तथा श्रद्धा की प्रगतिशील काम चेतना का यह संघर्ष उपस्थित करता है। मनु अन्ततः श्रद्धा को छोड़कर अकेलै सुख की खोज में आगे बढ़ जाते हैं।

इड़ा सर्ग : नवाँ सर्ग इसमें दो घटनाएँ है- पहला इड़ा से मिलना दूसरा काम का अभिशाप। मनु का जीवन भर अशान्त रहने का श्राप मिलता है। प्रसाद आधुनिक स्त्री एवं बुद्धि के प्रतीक इड़ा से परिचय कराते है।

'बिखरी अलके ज्यों तर्क जाल॥'

इड़ा बुद्धि का संदेश देती है। जीवन का निर्णय बुद्धि से लिया जाना चाहिए।

'बुद्धि न कहे उसको न मानकर
फिर किसकी नर शरण जाए॥'

मनु इड़ा की सहायता से एक नई आधुनिक सभ्यता का निर्माण करते हैं, जिसमें यांत्रिकता एवं प्रजातन्त्र है तथा मशीनी विकास पर बल है। इस प्रदेश का नाम सारस्वत है। प्रसाद का संकेत है कि मनु इस एकान्तिक सुख के भोगवादी पथ पर अन्ततः पराजित होते है। श्रद्धा विहीन भोगवाद द्वंद्व एवं संघर्ष को जन्म देता है। प्रजा का विद्रोह होता है, तथा मनु घायल होते हैं। प्रसाद का इशारा है कि इस आधुनिक सभ्यता तथा प्रजातंत्र से ही अधिनायकवाद का जन्म होता है।

निर्वेद एवं दर्शन सर्ग

इसमें मनु के मन में ग्लानि एवं पश्चाताप का भाव पैदा होता है। वे हीनता के बोध से श्रद्धा एवं बच्चे को छोड़कर कर गुफा में चले जाते है। अन्ततः श्रद्धा उन्हें खोजकर समझाती है तथा पुनः जीवन एवं कर्म से जोड़ने का प्रयत्न करती है। श्रद्धा अपने पुत्र कुमार को इड़ा को सौंप देती है। यह संकेत स्पष्ट करता हैं कि आधुनिक व्यक्ति में मनु की मननशीलता एवं इच्छाशक्ति तथा श्रद्धा का कर्म एवं इड़ा की बुद्धि वादी चेतना व मानसिक विकास तीनों जरूरी है। श्रद्धा मनु के साथ कैलाश पर्वत पर चली जाती है।

रहस्य सर्ग

रहस्य व आनंद सर्ग में जीवन की मूल समस्या पर विचार किया गया है। यह समस्या सामाजिक एवं शाश्वत भी है। रहस्य सर्ग में श्रद्धा जीवन के दुख का कारण समझाती है। यह कारण है इच्छा क्रिया एवं ज्ञान में समन्वय का नहीं होना।

'ज्ञान दूर कुछ क्रिया भिन्न हैं
इच्छा क्यों पूरी हो मन की
एक दूसरे से न मिल सके
यह विडंम्बना है जीवन की ॥'

आंनद सर्ग

अंतिम सर्ग आनंद सर्ग में यह दुख एवं विडम्बना समाप्त होती है। समरसता एवं समन्वय के आधार पर समाज एवं राष्ट्र की सेवा **(अन्ततः मानवता की सेवा)** कामायनी का लक्ष्य है। चिंता सर्ग से प्रारंभ होकर आनंद सर्ग तक यह यात्रा मानवीय विकास की कथा

है। यह चिंता व दुख से अन्ततः आनंद समरसता को उपलब्ध करती है।

'समरस थे जड़ या चेतन
सुंदर साकार बना था
चेतनता एक विलसती
आनंद अखण्ड घना था।।'

कामायनी

इसका प्रकाशन वर्ष 1936 ई. है और यह 15 सर्गों में विभक्त है।

'श्रद्धा सर्ग' से

- "कौन तुम? संसृति-जलनिधि तीर-तरंगों से फेंकी मणि एक,
  कर रहे निर्जन का चुपचाप प्रभा की धारा से अभिषेक?
  मधुर विश्रांत और एकांत-जगत का सुलझा हुआ रहस्य,
  एक करुणामय सुंदर मौन और चंचल मन का आलस्य!"
- सुना यह मनु ने मधुर गुंजार मधुकरी का-सा जब सानंद,
  किये मुख नीचा कमल समान प्रथम कवि का ज्यों सुंदर छंद।
  हृदय की अनुकृति बाह्य उदार एक लंबी काया, उन्मुक्त,
  मधु-पवन-क्रीड़ित ज्यों शिशु साल, सुशोभित हो सौरभ-संयुक्त।
  नील परिधान बीच सुकुमार खुल रहा मृदुल अधखुला अंग,
  खिला हो ज्यों बिजली का फूल मेघवन बीच गुलाबी रंग।

- नित्य-यौवन छवि से ही दीप्त विश्व की करुण कामना मूर्ति,
  स्पर्श के आकर्षण से पूर्ण प्रकट करती ज्यों जड़ में स्फूर्ति।
  कुसुम कानन अंचल में मद–पवन प्रेरित सौरभ साकार,
  रचित-परमाणु-पराग-शरीर खड़ा हो, ले मधु का आधार।
- "कौन हो तुम वसंत के दूत विरस पतझड़ में अति सुकुमार!
  घन-तिमिर में चपला की रेख, तपन में शीतल मंद बयार।
  नखत की आशा-किरण समान, हृदय के कोमल कवि की कांत–
  कल्पना की लघु लहरी दिव्य, कर रही मानस-हलचल शांत!"
- "भरा था मन में नव उत्साह सीख लूँ ललित कला का ज्ञान,
  इधर रह गंधर्वों के देश, पिता की हूँ प्यारी संतान।
  दृष्टि जब जाती हिमगिरि ओर प्रश्न करता मन अधिक अधीर,

धरा की यह सिकुड़न भयभीत आह, कैसी है? क्या है पीर?
तपस्वी! क्यों इतने हो क्लांत? वेदना का यह कैसा वेग?
आह! तुम कितने अधिक हताश - बताओ यह कैसा उद्वेग!
काम-मंगल से मंडित श्रेय, सर्ग इच्छा का है परिणाम,
तिरस्कृत कर उसको तुम भूल बनाते हो असफल भवधाम।"

- "दु:ख की पिछली रजनी बीच विकसता सुख का नवल प्रभात,
एक परदा यह झीना नील छिपाये है जिसमें सुख गात।
जिसे तुम समझे हो अभिशाप, जगत की ज्वालाओं का मूल-
ईश का वह रहस्य वरदान, कभी मत इसको जाओ भूल।
- किंतु जीवन कितना निरुपाय! लिया है देख, नहीं, संदेह,
निराशा है जिसका परिणाम, सफलता का वह कल्पित गेह।"

- प्रकृति के यौवन का शृंगार करेंगे कभी न बासी फूल,
मिलेंगे वे जाकर अति शीघ्र आह उत्सुक है उनकी धूल।
"एक तुम, यह विस्तृत भू-खंड प्रकृति वैभव से भरा अमंद,
कर्म का भोग, भोग का कर्म, यही जड़ का चेतन – आनंद।
दया, माया, ममता लो आज, मधुरिमा लो, अगाध विश्वास,
हमारा हृदय-रत्न-निधि स्वच्छ तुम्हारे लिये खुला है पास।
"और यह क्या तुम सुनते नहीं विधाता का मंगल वरदान-
'शक्तिशाली हो, विजयी बनो' विश्व में गूँज रहा जय-गान।
डरो मत, अरे अमृत संतान! अग्रसर है मंगलमय वृद्धि,
पूर्ण आकर्षण जीवन केंद्र खिंची आवेगी सकल समृद्धि।
शक्ति के विद्युत्कण जो व्यस्त विकल बिखरे हैं, हो निरुपाय,
समन्वय उसका करे समस्त विजयिनी मानवता हो जाय!"
- "क्या समर्पण आज का हे देव! 'वासना सर्ग' से बनेगा-
चिर-बंध- नारी-हृदय-हेतु- सदैव।
आह मैं दुर्बल, कहो क्या ले सकूँगी दान!
वह, जिसे उपभोग करने में विकल हों प्रान?"

'लज्जा सर्ग' से

- "कोमल किसलय के अंचल में नन्हीं कलिका ज्यों छिपती-सी,
  गोधूली के धूमिल पट में दीपक के स्वर में दिपती-सी।
  वरदान सदृश हो डाल रही नीली किरनों से बुना हुआ,
  यह अंचल कितना हल्का-सा कितना सौरभ से सना हुआ।
  सब अंग मोम से बनते हैं कोमलता में बल खाती हूँ,
  मैं सिमट रही-सी अपने में परिहास-गीत सुन पाती हूँ।

- "इतना न चमत्कृत हो बाले! अपने मन का उपकार करो,
  मैं एक पकड़ हूँ जो कहती ठहरो कुछ सोच-विचार करो।
  मैं देव-सृष्टि की रति-रानी निज पंचबाण से वंचित हो,
  बन आवर्जना-मूर्ति दीना अपनी अतृप्ति-सी संचित हो,
  अवशिष्ट रह गई अनुभव में अपनी अतीत असफलता-सी,
  लीला विलास की खेद-भरी अवसादमयी श्रम-दलिता-सी,
  मैं रति की प्रतिकृति लज्जा हूँ मैं शालीनता सिखाती हूँ,
  मतवाली सुंदरता पग में नूपुर सी लिपट मनाती हूँ,
  चंचल किशोर सुंदरता की मैं करती रहती रखवाली,
  मैं वह हलकी सी मसलन हूँ जो बनती कानों की लाली।"

- यह आज समझ तो पाई हूँ मैं दुर्बलता में नारी हूँ,
  अवयव की सुंदर कोमलता लेकर मैं सबसे हारी हूँ।
  छायापथ में तारक-द्युति सी झिलमिल करने की मधु-लीला,
  अभिनय करती क्यों इस मन में कोमल निरीहता श्रम-शीला?

- "क्या कहती हो ठहरो नारी! संकल्प-अश्रु-जल से अपने-
  तुम दान कर चुकी पहले ही जीवन के सोने-से सपने।
  नारी! तुम केवल श्रद्धा हो विश्वास-रजत-नग पगतल में,
  पीयूष-स्रोत-सी बहा करो जीवन के सुंदर समतल में।
  आँसू से भींगे अंचल पर मन का सब कुछ रखना होगा-
  तुमको अपनी स्मित रेखा से यह संधिपत्र लिखना होगा।"

- यह जलन नहीं सह सकता मैं चाहिये मुझे मेरा ममत्व,
  इस पंचभूत की रचना में मैं रमण करूँ बन एक तत्त्व।
  तुम अपने सुख से सुखी रहो मुझको दुःख पाने दो स्वतंत्र,
  मन की परवशता महा-दुःख' मैं यही जपूँगा महामंत्र!
  लो चला आज मैं छोड़ यहीं संचित संवेदन-भार-पुंज,
  मुझको काँटे ही मिले धन्य! हो सफल तुम्हें ही कुसुम-कुंज।"

'इड़ा सर्ग' से

- स्थिर-मुक्ति, प्रतिष्ठा मैं वैसी चाहता नहीं इस जीवन की
  मैं तो अबाध गति मरुत-सदृश, हूँ चाह रहा अपने अपने मन की
- अपनी ज्वाला से कर प्रकाश
  जब छोड़ चला आया सुंदर प्रारंभिक जीवन का निवास
  वह, गुहा, कुंज, मरु-अंचल में हूँ खोज रहा अपना विकास
- जीवन-निशीथ के अंधकार!
  तू, नील तुहिन-जल निधि बन कर फैला है कितना वार-पार
  कितना चेतनता की किरणें हैं डूब रहीं ये निर्विकार
- जीवन-निशीथ के अंधकार!
  तू घूम रहा अभिलाषा के नव ज्वलन-धूम-सा दुर्निवार
  जिसमें अपूर्ण-लालसा, कसक, चिनगारी-सी उठती पुकार

- था एक पूजता देह दीन
  दूसरा अपूर्ण अहंता में अपने को समझ रहा प्रवीण
  दोनों का हठ था दुर्निवार, दोनों ही थे विश्वास-हीन–
  फिर क्यों न तर्क को शस्त्रों से वे सिद्ध करें–क्यों हो न युद्ध
  उनका संघर्ष चला अशांत वे भाव रहे अब तक विरुद्ध
  मुझमें ममत्वमय आत्म-मोह स्वातंत्र्यमयी उच्छृंखलता,
  हो प्रलय-भीत तन रक्षा में पूजन करने की व्याकुलता
  वह पूर्व द्वंद्व परिवर्तित हो मुझको बना रहा अधिक दीन
  सचमुच मैं हूँ श्रद्धा-विहीन।
- "मनु! तुम श्रद्धा को गये भूल
  तुम भूल गये पुरुषत्व-मोह में कुछ सत्ता है नारी की
  समरसता है संबंध बनी अधिकार और अधिकारी की।

जब गूँजी यह वाणी तीखी कंपित करती अंबर अकूल
मनु को जैसे चुभ गया शूल।

- "यह कौन? अरे फिर वही काम!
जिसने इस भ्रम में है डाला छीना जीवन का सुख-विराम?
क्या तुमने श्रद्धा को पाने के लिये नहीं सस्नेह कहा?
पाया तो, उसने भी मुझको दे दिया हृदय निज अमृत-धाम
फिर क्यों न हुआ मैं पूर्ण-काम?

- "मनु! उसने तो कर दिया दान
पर तुमने तो पाया सदैव उसकी सुंदर जड़ देह मात्र
सौंदर्य्य जलधि से भर लाये केवल तुम अपना गरल पात्र

- हाँ, अब तुम बनने को स्वतंत्र
सब कलुष ढाल कर औरों पर रखते हो अपना अलग तंत्र
द्वंद्वों का उद्‌गम तो सदैव शाश्वत रहता वह एक मंत्र
हृदयों का हो आवरण सदा अपने वक्षस्थल की जड़ता
पहचान सकेंगे नहीं परस्पर चले विश्व गिरता पड़ता

लालसा भरे यौवन के दिन पतझड़ से सूखे जायँ बीत
संदेह नये उत्पन्न रहें उनसे संतप्त सदा सभीत
फैलेगा स्वजनों का विरोध बन कर तम वाली श्याम-अमा
दारिद्रय दलित बिलखाती हो यह शस्यश्यामला प्रकृति-रमा

'कल्याण भूमि यह लोक' यही श्रद्धा-रहस्य जाने न प्रजा
अतिचारी मिथ्या मान इसे परलोक-वंचना से भर जा

बिखरीं अलकें ज्यों तर्क जाल-
वह विश्व मुकुट सा उज्ज्वलतम शशिखंड सदृश था स्पष्ट भाल
दो पद्म-पलाश चषक-से दृग देते अनुराग विराग ढाल

नीरव थी प्राणों की पुकार
मूर्च्छित जीवन-सर निस्तरंग नीहार घिर रहा था अपार
निस्तब्ध अलस बन कर सोयी चलती न रही चंचल बयार

हाँ तुम ही हो अपने सहाय?
जो बुद्धि कहे उनको न मान कर फिर किसकी नर शरण जाय
जितने विचार संस्कार रहे उनका न दूसरा है उपाय
"जीवन निशीथ का अंधकार
भग रहा क्षितिज के अंचल में मुख आवृत्त कर तुमको निहार
तुम इड़े उषा-सी आज यहाँ आयी हो बन कितनी उदार

आसूँ :

'आँसू' प्रसाद जी का प्रसिद्ध विरहकाव्य है। इसका सर्वप्रथम प्रकाशन सम्वत् 1982 वि० में 'साहित्य-सदन' चिरगाँव झाँसी से हुआ था। इसके 126 छन्दों में कवि ने करुण-विप्रलम्भ-शृंगार रस का निर्वचन किया था। 'आँसू' का विरह निवेदन कवि के व्यक्तिगत जीवन से सम्बन्धित मस्तक में स्मृति सी छायी हुई किसी घनीभूत पीड़ा का बरसना है। अपने प्रारम्भिक रूप में यह एक स्मृतिकाव्य ही दुर्दिन था, किन्तु जब आठ वर्ष पश्चात् इसका दूसरा संस्करण भारती भण्डार, लीडर प्रेस, प्रयाग से निकला तब इसमें कविताओं की संख्या बढ़ाने के साथ ही साथ उनके क्रम में भी परिवर्तन कर दिया, परिणामतः 'आँसू' व्यक्तिगत जीवन के वेदना की संकीर्ण राहों से निकलकर विश्व-पीड़ा के प्रशस्त पंथ पर प्रवाहित हुआ। छन्दों की संख्या लगभग 190 तक कर दी गई। 'आँसू' का प्रारम्भ ही करुणा-कलित स्वरों से किया गया है। 'आँसू' में कवि

का अपना एक दृष्टिकोण है जो सर्वांशतः मौलिक है। यह दृष्टिकोण वेदना की सतह पर आधारित है। वेदना को कवि ने मानव जीवन के प्रति नकारात्मक दृष्टि से नहीं देखा है। वह यहाँ उसके भावात्मक रूप को ही अधिक महत्व देता है। यही कारण है कि 'झरना' तक की कविताओं की वेदना एक संकुचित सीमा में ही निहित है। जब 'आँसू' की वेदना व्यक्ति से चलकर समाज पर जाकर रूकती है तब यह वेदना मानव जीवन के निर्माण में एक आवश्यक अंग बन कर आती है। यही कारण है कि 'आँसू' का कवि निराशा से आशा, अश्रु से स्मितहास तथा स्वप्नों के मधुर कल्पना-जगत से जीवन के यथार्थवादी प्रभात में ही अपने आदर्शों की चरम परिणति देखता है।

13. जयशंकर प्रसाद

आँसू

इसका प्रकाशन वर्ष 1925 ई. है तथा इसे 'हिंदी का मेघदूत' कहा जाता है।

- जो घनीभूत पीड़ा थी
  मस्तक में स्मृति-सी छायी
  दुर्दिन में आँसू बन कर
  वह आज बरसने आयी।
- छिल-छिल कर छाले फोड़े
  मल-मल कर मृदुल चरण से
  धुल-धुल कर वह रह जाते
  आँसू करुणा के कण से।
- अभिलाषाओं की करवट
  फिर सुप्त व्यथा का जगना
  सुख का सपना हो जाना
  भींगी पलकों का लगना।
- मादक थी मोहमयी थी
  मन बहलाने की क्रीड़ा
  अब हृदय हिला देती है
  वह मधुर प्रेम की पीड़ा।

- सुख आहत शान्त उमंगें
  बेगार साँस ढोने में
  यह हृदय समाधि बना है
  सेती करुणा कोने में।
- रो-रोकर सिसक-सिसक कर
  कहता मैं करुण-कहानी
  तुम सुमन नोचते सुनते
  करते जानी अनजानी।
- झंझा झकोर गर्जन था
  बिजली थी, नीरद माला
  पाकर इस शून्य हृदय को
  सब ने आ डेरा डाला।
- कितनी निर्जन रजनी में
  तारों के दीप जलाये
  स्वर्गङ्गा की धारा में
  उज्ज्वल उपहार चढ़ाये!
- पतझड़ था, झाड़ खड़े थे
  सूखी-सी फुलवारी में
  किसलय नव कुसुम बिछाकर
  आये तुम इस क्यारी में!

- घन में सुंदर बिजली-सी
  बिजली में चपल चमक-सी
  आँखों में काली पुतली
  पुतली में श्याम झलक-सी।
- बाँधा था विधु को किसने
  इन काली जंजीरों से
  मणि वाले फणियों का मुख
  क्यों भरा हुआ हीरों से?
- काली आँखों में कितनी
  यौवन के मद की लाली
  मानिक-मदिरा से भर दी
  किसने नीलम की प्याली?
- कोमल कपोल पाली में
  सीधी सादी स्मित-रेखा
  जानेगा वही कुटिलता
  जिसने भौं में बल देखा।
- विकसित सरसिज-वन वैभव
  मधु-ऊषा के अंचल में
  उपहास करावे अपना
  जो हँसी देख ले पल में!

- चंचला स्नान कर आवे
  चंद्रिका पर्व में जैसी
  उस पावन तन की शोभा
  आलोक मधुर थी ऐसी!
- हिलते-द्रुम-दल कल किसलय
  देती गलबाँही डाली
  फूलों का चुम्बन, छिड़ती-
  मधुपों की तान निराली।
- परिरम्भ कुम्भ की मदिरा
  निश्वास मलय के झोंके
  मुख-चन्द्र चाँदनी जल से
  मैं उठता था मुँह धोके!
  लहरों में प्यास भरी है
  है भँवर पात्र भी खाली
  मानस का सब रस पीकर
  लुढ़का दी तुमने प्याली।
- कुसुमाकर रजनी के जब
  पिछले पहरों में खिलता
  उस मृदुल शिरोष सुमन-सा
  मैं प्रात धूल में मिलता।
- मादकता से आये तुम
  संज्ञा से चले गये थे
  हम व्याकुल पड़े बिलखते
  थे, उतरे हुए नशे से।

- कलियों को उन्मुख देखा
  सुनते वह कपट - कहानी
  फिर देखा उड़ जाते भी
  मधुकर को कर मनमानी।

- फिर उन निराश नयनों की
  जिनके आँसू सूखे हैं
  उस प्रलय दशा को देखा
  जो चिर - वंचित भूखे हैं।

- सूनी कुटिया कोने में
  रजनी भर जलते जाना
  लघु स्नेह भरे दीपक का
  देखा है फिर बुझ जाना।

- सबका निचोड़ लेकर तुम
  सुख से सूखे जीवन में
  बरसो प्रभात हिमकन-सा
  आँसू इस विश्व - सदन में।